www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

# धार्मिक नवचेतना के अवतार—महाप्रभु चैतन्य

नदिया (बंगाल) के काजी चाँद खाँ ने हरि कीर्तन को बंद करने की आज्ञा निकाली। उसने एकाध स्थान पर कीर्तन बंद करा के लोगों को जेल भेजने की धमकी भी दी। भक्तों ने उससे डरकर कीर्तन करने वाली वैष्णव मंडली के लोकप्रिय नेता 'निमाई पंडित' (बाद में श्री चैतन्य प्रभु) के पास जाकर कहा—"ऐसा अत्याचार होगा तो हम हरि-कीर्तन कैसे कर सकेंगे ? इससे तो अच्छा है कि हम किसी ऐसे स्थान पर चले जायें, जहाँ निर्विध्न भगवान् का नाम ले सकें।"

निमाई ने रोषपूर्वक कहा—"तुम तनिक भी भयभीत न हो—हरि नाम का लेना कोई नहीं रोक सकता। तुमको नगर छोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और न हरि-कीर्तन ही रोकना पड़ेगा।"

दूसरे दिन उन्होंने अपने परम सहकारी 'निताई' (नित्यानंद) तथा हरिदास से कहा कि संपूर्ण नगर में यह घोषणा कर दो कि, "आज संध्या को हम कीर्तन करते हुए समस्त नगर का भ्रमण करेंगे और काजी साहब के मकान पर भी कीर्तन करेंगे। सब लोग नियत समय पर हमारे घर एकत्रित हों और प्रकाश के लिए एक-एक मशाल भी लेते आवें।" निताई यह सुनकर प्रसन्न हो उठे और उन्होंने हरिदास को साथ लेकर मुहल्ले-मुहल्ले में यह संवाद फैला दिया और लोगों को प्रेरणा दी कि वे जलूस का स्वागत करने के लिए सजावट और अन्य तैयारियाँ करें।

नदिया के निवासी इस घोषणा को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। अब तक अधिकांश लोगों ने 'निमाई'—'निताई' को कीर्तन करते अपनी आँखों से नहीं देखा था, क्योंकि वे प्रायः श्रीवास पंडित के घर पर ही कीर्तन किया करते थे। इसलिए वे कीर्तन के अभूतपूर्व दृश्य को देखने को बड़े उत्सुक हुए और उन्होंने समस्त शहर को

खूब सजा डाला। जगह-जगह केले के स्तंभ और ध्वजा-पताका लगाये गये। सड़कों पर पानी का छिड़काव कराया गया और धूप, गूगल आदि सुगंधित पदार्थ अग्नि में डाले गये। भक्तजनों ने अपने द्वारों के आगे पानी भरकर मंगल-कलश रख दिये।

संध्या होने के कुछ पहले ही चैतन्य महाप्रभु कीर्तन मंडली के साथ 'हरिबोल' की ध्वनि करते नगर-भ्रमण करने लगे। वे ऊँचा हाथ करके लोगों को कीर्तन में सम्मिलित होने का आमंत्रण दे रहे थे। उनको देखकर बालक, वृद्ध और प्रौढ़ सब नाच उठते थे और कीर्तन मंडली के साथ चलने लगते थे। भक्तजन प्रेम से नृत्य करने लगे ! सबके पैर एक साथ उठते थे। साथ में ढोल मृदंग, करताल, मजीरा आदि बज रहे थे। कीर्तन करने वालों की कितनी ही मंडलियाँ अलग-अलग हो गईं थीं। चैतन्य की मंडली सबके अंत में चल रही थी। वे भावावेश में मस्तक पर हाथ डुलाकर अलौकिक भाव से नृत्य कर रहे थे।

इस प्रकार जूलूस में क्रमशः कई हजार जन-समुदाय एकत्रित हो गया। अब इस विशाल समूह को लेकर चैतन्य काजी के मकान की तरफ चले। जूलूस के आगे जो व्यक्ति चल रहे थे, उनमें से कुछ नासमझ लोगों ने जोश में आकर कह दिया—"काजी को मार दो—उसका घर लूट लो।" जब इस बात को चैतन्य ने सुना तो उन्होंने तुरंत सबको शांत रहने का आदेश दिया। इधर इस भारी प्रदर्शन को देखकर और उसकी तुमुल जयध्वनि सुनकर काजी भयभीत होकर घर के भीतर जा छुपा। चैतन्य अपने भक्तों को लेकर उसके चौक में पहुँचे और 'हरिबोल' की मधुरध्वनि से कीर्तन करने लगे। थोड़ी देर इस प्रकार काजी के घर में ही कीर्तन करके उन्होंने काजी के सेवकों से कहा—"काजी साहब को बाहर बुलाओ। उनसे कोई कुछ नहीं कहेगा, इसका विश्वास मैं दिलाता हूँ।"

यह सुनकर काजी बाहर आया। चैतन्य ने उनको बड़े प्रेमपूर्वक भेंट करके बगल में बैठाया और फिर कहा—"काजी साहब, यह कहाँ की रीति है कि हम तो आपके घर आवें और आप घर के भीतर बैठे रहें।"

काजी ने शरमाते हुए कहा—"भाइयों, आप मेरे घर पर आये, यह मेरा सौभाग्य है, परंतु मैंने समझा आप नाराज होंगे, इससे मुझे डर लगने लगा।"

हँसते हुए चैतन्य ने कहा—"आप तो यहाँ के राज्य-कर्ता हो। आपसे हम किस तरह नाराज हो सकते हैं ? मैं तो केवल यही मालूम करने आया था कि आपने कीर्तन को बंद करने का हुक्म क्यों दिया है ?"

काजी भला आदमी था। उसने सरल भाव से उत्तर दिया—"नगर के कितने ही हिंदू-मुसलमानों ने मेरे पास आकर फरियाद की कि आपके कीर्तन से उनको तकलीफ होती है, इसलिए कानून की दृष्टि से मुझे वैसी आज्ञा देनी पड़ी। परंतु अब आपका सच्चा-भक्ति-भाव और जनता का सहयोग देखकर मुझे विश्वास हो गया है कि आपके कार्य में कोई हानिकारक बात नहीं है। अब आपके कीर्तन को कोई नहीं रोकेगा।"

काजी का कथन सुनकर भक्त जनों को बड़ा आनंद हुआ। चैतन्य देव ने कुछ देर तक वहीं कीर्तन किया और फिर सब मंडली को लेकर श्रीवास पंडित के स्थान पर पहुँचे। इस अवसर पर कितने ही डरपोक मनुष्य लड़ाई-झगड़े का अंदेशा करके घरों में घुस गये थे। उधर काजी के नौकर भी हथियार लेकर लड़ने को तैयार थे। परंतु चैतन्य देव ने अपनी नीतिज्ञता से एक कठिन समस्या को सुलझा दिया और जन-पक्ष को विजय दिला दी।

× × × ×

चैतन्य देव (जन्म सन् १५४२) का आविर्भाव उस समय में हुआ था जब हमारा देश एक प्रकार से 'क्रांति-युग' में होकर गुजर रहा था। विदेशी शासन को भारतवर्ष में स्थापित हुए साढ़े-तीन-सौ वर्ष हो चुके थे। इस बीच में पठानों के कई खानदान दिल्ली के शासक बन चुके थे। ये लोग स्वभाव से ही कुछ कठोर और केवल पाशविक शक्ति में ही विश्वास रखने वाले थे, इसलिए उनके शासन-काल में कभी स्थायी शांति के दर्शन न हो सके। उनका वास्तविक अधिकार वास्तव में दिल्ली और आस-पास के सौ-पचास कोस के क्षेत्र तक सीमित था। शेष भागों पर सूबेदार या राजा लोगों का अधिकार था,

जो नाम-मात्र के लिए दिल्ली की सल्तनत में शामिल थे। जब कोई बादशाह सुयोग्य और वीर होता तो ये सूबेदार दबकर उसे खिराज (टैक्स) अदा कर देते थे और जब देखते कि बादशाह दुर्बल या अयोग्य है तो अपने प्रदेश के सोलह आने मालिक बन बैठते थे। ये प्रादेशिक शासक आपस में भी ईर्ष्या-द्वेष रखते थे और जब कभी मौका लगता तो अपने से कमजोर सूबेदार के राज्य पर आक्रमण करके उसे हड़प जाने की चेष्टा किया करते थे। इस कारण उस युग में देश के एक बड़े हिस्से में मारकाट और अशांति का साम्राज्य बना रहता था और फलस्वरूप जनता को तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ते थे।

इन कष्ट-पीड़ितों में अधिक संख्या हिंदुओं की थी। मुसलमान एक तो शासक दल के थे और दूसरे उनकी संख्या भी सीमित थी। इसलिए लूटमार, अन्याय-अत्याचार के शिकार गरीब या धनी हिंदुओं को ही होना पड़ता था। जो शासक अधिक क्रूर और अत्याचारी थे, वे केवल हिंदुओं के धन व मान को ही नहीं लूट रहे थे, वरन् उनके धर्म पर भी आघात करते रहते थे। जहाँ कहीं ये आक्रमणकारी जाते थे, वहीं पर मंदिरों को तोड़ते, धर्मग्रंथों को जलाते और धार्मिक जनों को जबर्दस्ती भ्रष्ट करके अपने धर्म में शामिल कर लेते थे, लगातार कई सौ वर्षों से ऐसे अत्याचारों को सहते रहने से हिंदू-जाति निस्तेज और निराश हो चली थी, स्वधर्म के महत्त्व को भुला बैठी थी और अपनी रक्षा तथा लाभ की आकांक्षा से कितने ही हिंदू स्वेच्छापूर्वक भी विदेशी और विधर्मी शासक जाति के अनुयायी बनने लग गये थे।

धर्म और समाज की ऐसी दुरावस्था देखकर कितने ही देश और समाज हितैषियों का हृदय व्यथित होने लगा। भगवान् की लीलाभूमि, धर्म का मूल स्रोत जगत् को चरित्र, नीति, न्याय की शिक्षा देने वाली इस भूमि की ऐसी पतित और कष्टपूर्ण, अवस्था उनको असहनीय प्रतीत हुई। उस समय परिस्थिति सर्वथा विपरीत थी, हिंदू आपस की फूट के कारण सर्वथा विशृंखलित हो गये थे और इसलिए अल्पसंख्यक मुसलमानों से सभी बातों में दबते रहते थे। इन सुधारकों ने देखा कि इस समय हिंदुओं की राजनीतिक शक्ति तो पूर्ण रूप से नष्ट हो चुकी है, अगर कही कोई शक्तिशाली हिंदू

www.jainelibrary.org www.jainelibrary.org



शासक है भी, तो संगठन और ऐक्य-भाव के अभाव से सब लोग उसके झंडे के नीचे इकट्ठे नहीं हो सकते। इसलिए उस समय अपने-अपने क्षेत्र में धर्म के नाम पर जनता को एक सूत्र में संगठित करना और इसी आधार पर उसे विधर्मियों के मुकाबले में खड़ा होने का साहस प्रदान करना, यही एक मात्र मार्ग था। आरंभ में वर्णन की गई काजी की आज्ञा उल्लंघन करके कीर्तन करने की घटना इसी जन-आंदोलन की एक अभिव्यक्ति थी। चैतन्य ने विद्या, यश, गृह-सुख, सौंदर्य आदि से परिपूर्ण होने पर भी इस ध्येय की पूर्ति के लिए सब कुछ त्याग दिया। अपने देशवासियों की दुर्दशा देखकर उन्होंने अपनी समस्त शक्तियों को ही नहीं, प्राणों तक को धर्म और समाज की रक्षार्थ अर्पण करने का निश्चय कर लिया।

## बाल्यावस्था और विद्यावस्था—

चैतन्य के पिता पंडित जगन्नाथ मिश्र तथा माता शचीदेवी धार्मिक प्रवृत्ति के थे और उनके प्रभाव से चैतन्य में भी इस भावना का बीजांकुर था, तो भी बाल्यावस्था में वह अपनी चंचलता के लिए प्रसिद्ध थे। पढ़-लिखकर एक पाठशाला के अध्यापक हो जाने पर भी वे सदैव लड़कों की तरह हास्य-विनोद में संलग्न रहते थे। कभी-कभी विनोद की मात्रा इतनी बढ़ जाती थी कि लोग उनसे घबड़ाने लगते थे।

प्रकृति ने उनको रूपराशि भी अपूर्व प्रदान की थी। उनका रंग इतना गोरा था कि उनका एक नाम ही 'गौरांग' पड़ गया था। चेहरा अत्यंत आकर्षक, कंठ स्वर बहुत ही मधुर, केशराशि भौरों की तरह काली—चमकीली, वेष-भूषा अत्यंत मनोरम—उनका समस्त व्यक्तित्व ऐसा था कि देखने वाला देखता ही रह जाता था। उनकी पत्नी 'विष्णुप्रिया' भी परम सुंदरी और उच्चकोटि की पतिपरायणा थीं। उन दोनों में प्रगाढ़ प्रेम था और इससे सभी परिचित जन उनको 'रसिक शिरोमणि' की उपाधि दिया करते थे। पर इस प्रकार का आनंदयुक्त जीवन व्यतीत करते हुए भी जब चौबीस वर्ष की भरपूर युवावस्था में उन्होंने संन्यास ग्रहण करके तन, मन, धन सर्वस्व समाज और धर्म के उद्धार के लिए न्यौछावर कर दिया तो दुनिया चकित रह गई।

## विद्या के साथ निरभिमानता—

उन्होंने विद्या के क्षेत्र में भी बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। जब उनकी अवस्था थोड़ी ही थी और उन्होंने परिवार के निर्वाहार्थ अध्यापन कार्य आरंभ ही किया था, उसी समय केशव काश्मीरी नाम का एक पंडित शास्त्रार्थ के लिए नदिया आया। वह उस जमाने की प्रथा के अनुसार दिग्विजय करने निकला था और संस्कृत के बड़े-बड़े विद्या-केंद्रों में अपनी जीत का झंडा फहराकर नदिया आया था, क्योंकि उस समय वह बंगाल के संस्कृत पंडितों का केंद्र था। 'केशव काश्मीरी' के साथ हाथी, घोड़ा, पालकी, नौकर-चाकर आदि पूरा दरबारी ठाठ था। कितने ही पंडित भी उसके साथ रहते थे। नदिया के पंडित तो उसका नाम ही सुनकर डर गये। कुछ लोगों ने आकर निमाई पंडित (चैतन्य) को भी यह सब समाचार सुनाया, पर उन्होंने न तो कोई भय का भाव प्रकट किया और न शास्त्रार्थ को आतुरता दिखाई। वे शास्त्रचर्चा को इस तरह किसी को हराने का साधन बनाना कोई प्रशंसनीय बात नहीं समझते थे।

एक दिन संयोगवश गंगा किनारे इन दोनों विद्वानों की भेंट हो गई। चैतन्य तथा बहुसंख्यक अन्य विद्यार्थियों के अनुरोध पर केशव काश्मीरी ने अपने तत्काल रचित कुछ संस्कृत पद्य सुनाये। चैतन्य ने कहा—पंडित जी ! यदि आप इनमें से कुछ पद्यों की आलोचना करके उनके गुण-दोष बतलायें तो इन विद्यार्थियों का उपकार होगा। केशव काश्मीरी जैसा अहम्मन्य विद्वान् अपनी रचना में दोषों का होना कैसे मान सकता था ? इससे उसने बात टालने के अभिप्राय से कहा कि, आप लोग जिस पद्य की आलोचना सुनना चाहें, उसीकी सुनाई जाए। वह समझता था कि, मैंने जो पद्य तत्काल रचकर सुनाये हैं, वे किसी को याद तो हो नहीं सकते, इसलिए बात यहीं खत्म हो जायेगी। पर चैतन्य की स्मृति शक्ति बड़ी तीव्र थी और उन्होंने उसी समय एक पद्य ज्यों का त्यों सुनाकर कहा कि इसकी आलोचना कीजिए। अपने पद्य को दूसरे किसी के मुख से ज्यों का त्यों सुनकर केशव का मुँह फक्क हो गया और उसकी विद्वता का अहंकार चूर-चूर हो गया। उन्होंने जैसे-तैसे कुछ आलोचना की, पर

उत्साह भंग हो जाने से उसका रंग जम न सका। तब चैतन्य ने ही उसके पाँच गुण और पाँच दोष आलोचना करते हुये बताये। यद्यपि चैतन्य ने बड़ी नम्रता से बातचीत की, पर केशव को स्वयं ही अपनी हार का अनुभव हो गया और वह मुँह लटकाये हुए वहाँ से चला गया।

रात में उसने इस घटना पर बहुत विचार किया और अंत में चैतन्य की महत्ता उसकी समझ में आ गई। इस पर सबेरा होते ही वह चैतन्य के पास पहुँचा और उनकी श्रेष्ठता मुक्त कंठ से स्वीकार की। चैतन्य ने फिर भी विनयपूर्वक बातें करके उसे हर तरह से आश्वस्त किया और विद्या का प्रयोग शास्त्रार्थ जैसे प्रदर्शनों में करने की बजाय लोकोपकारार्थ करने की ही सम्मति दी।

## उदारता की पराकाष्ठा—

उन्हीं दिनों एक और घटना भी ऐसी हुई थी, जिससे चैतन्य की निरभिमानिता और परोपकारमय मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। चैतन्य के सहपाठी-मित्रों में से एक रघुनाथ थे, जो न्यायशास्त्र के विद्यार्थी थे और इस विषय में वर्षों तक परिश्रम करके उन्होंने अद्वितीय योग्यता उपलब्ध की थी। उसने न्यायशास्त्र की व्याख्या संबंधी एक ग्रंथ रचा था और उसे आशा थी कि इसके कारण उसका नाम भविष्य में बहुत समय तक स्थिर रह सकेगा। पर एक दिन उसने सुना कि चैतन्य ने भी न्यायशास्त्र पर एक ग्रंथ लिखा है। इससे उसके मन में ईर्ष्या का भाव जाग्रत् हो गया और वह सोचने लगा कि चैतन्य जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् के लिखे ग्रंथ के सामने उसकी रचना की कभी पूछ नहीं हो सकती।

कुछ समय पश्चात् अवसर मिलने पर उसने चैतन्य से पूछ ही लिया कि—'तुमने न्यायशास्त्र' की व्याख्या संबंधी कोई ग्रंथ लिखा है ?" चैतन्य ने हँसकर उत्तर दिया—"अजी पंडितराज ! आप कैसी बातें करते हैं ! न्याय जैसे जटिल विषय पर मैं क्या लिख सकता हूँ ? केवल मनोविनोद के लिए यों ही कुछ लिख डाला है।"

रघुनाथ ने आग्रहपूर्वक कहा—"अगर आपको किसी प्रकार की बाधा न हो तो वह ग्रंथ मुझे जरूर सुनाना।"

चैतन्य पुस्तक लेकर नदी की तरफ चल दिये और एक नाव में बैठकर रघुनाथ को सुनाने लगे। रघुनाथ जैसे-जैसे सुनता जाता था उसकी उत्कृष्टता देखकर उसकी मनोवेदना बढ़ती जाती थी। अंत में वह फूट-फूटकर रोने लगा। निर्मल हृदय चैतन्य इस प्रकार रोने का कारण कुछ भी न समझ पाये। उन्होंने पढ़ना बंद करके रोने का कारण पूछा। पंडित रघुनाथ के हृदय में जो ईर्ष्या भरी हुई थी अब वह अधिक समय तक छिपी न रह सकी। उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—'भाई चैतन्य ! तुम तो सरल स्वभाव के हो, पर मेरे मन में तो ईर्ष्या भरी है। तुम्हारी इस रचना के आगे मेरे ग्रंथ को कोई नहीं पूछ सकता। मेरी अभिलाषा मन की मन में रह गई।"

पवित्र स्वभाव के चैतन्य ने अब रघुनाथ के मनोभाव को समझा। उसका नैराश्य देखकर उनके हृदय को भी व्यथा होने लगी। उन्होंने अपने ग्रंथ का एक-एक पन्ना फाड़कर नदी में फेंकना शुरू किया। रघुनाथ यह देखकर चौंक पड़ा और रोकने लगा। पर चैतन्य ने कहा—"पंडितराज, तुम्हारी ईर्ष्या को शांत करने का केवल यही एक उपाय है कि मैं अपना ग्रंथ भागीरथी को भेंटकर दूँ।"

जो लोग छोटी-मोटी सफलताओं को लेकर परस्पर वैमनस्य का बीज बो लेते हैं और कलह को बढ़ा कर अपनी और दूसरों की बड़ी-बड़ी हानियाँ कर डालते हैं, वे इस घटना से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। रघुनाथ के जिस ग्रंथ की रक्षा के लिए चैतन्य ने अपनी रचना नदी में फेंक दी थी, वह रघुनाथ का 'दीछित' नामक ग्रंथ बंगाल में आज तक न्याय की सर्वोत्तम कृति मानी जाती है और उसी के आधार पर रघुनाथ को "नैयायिक-शिरोमणि" की उपाधि मिली हुई है। यह देखकर सहज में यह अनुमान किया जा सकता है कि चैतन्य का ग्रंथ कितनी उच्च कोटि का होगा और यदि वह आज उपलब्ध होता तो उसका कितना सम्मान किया जाता ?

## चैतन्य की गुणग्राहकता—

तीसरी घटना जगन्नाथ पुरी के प्रसिद्ध संत माधवेंद्रपुरी के शिष्य ईश्वरपुरी की है। एक बार वे भ्रमण करते हुए नदिया आये

और अद्वैताचार्य के यहाँ ठहरे। एक दिन चैतन्य वहाँ गये, तो संन्यासी को देखकर प्रणाम किया। ईश्वरपुरी भी इनको देख बड़े प्रसन्न हुए। चैतन्य उन्हें अपने घर भोजन कराने ले गये और तब से दोनों में प्रेम-भाव उत्पन्न हो गया।

ईश्वरपुरी ने 'श्रीकृष्णलीलामृत' नाम का ग्रंथ उन्हीं दिनों लिखा था, चैतन्य जब कभी मिलने आते तो ईश्वरपुरी कोई प्रसंग उठाकर अपनी पुस्तक के श्लोक इनको सुनाया करते थे। उनको सुनकर चैतन्य बड़े प्रसन्न होते। एक दिन ईश्वरपुरी ने कहा—"मैं अपनी विद्वता प्रकट करने के लिए आपको श्लोक नहीं सुनाता। आप सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं, इसलिए जहाँ कहीं अशुद्धि हो वहाँ मुझे बताते चलें।"

चैतन्य ने नम्रता से कहा—"श्रीकृष्ण-कथा में शुद्धि अथवा अशुद्धि कैसी ? अपने भक्तिभाव में भक्तजन जो कुछ कहते हैं, वह शुद्ध ही माना जाता है। जिस पद में भगवत्-भक्ति है, जिस छंद में परमात्मा की महिमा का वर्णन हैं। वह यदि अशुद्ध है तो भी उसे शुद्ध समझना चाहिए। हाँ, जिसमें भगवान् की ओर प्रेरणा न हो, उसकी भाषा चाहे जैसी परिमार्जित क्यों न हो, वह व्यर्थ ही है। आप तो सच्चे भक्त हैं, इसलिए अशुद्धियों का प्रश्न ही नहीं उठता—

**मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे।**
**उभयोस्तु शुभं पुण्यं भावग्राही जनार्दनः।।**

व्याकरण के न जानने वाले व्यक्ति 'विष्णवे नमः' के स्थान पर 'विष्णाय नमः' बोल जाते हैं, जबकि विद्वान् शुद्ध उच्चारण ही करते हैं। इस तरह भाषा की दृष्टि से अंतर रहने पर भी नाम लेने का शुभ फल दोनों को समान ही मिलता है, क्योंकि भगवान् हृदय के भाव को देखते हैं, भाषा और व्याकरण के नियमों की जाँच करते फिरना उनका काम नहीं है।

चैतन्य के इस उत्तर से उनकी महत्ता ईश्वरपुरी के हृदय में अंकित हो गई और वे सदा उनके शुभाकांक्षी बने रहे। यद्यपि चैतन्य की प्रतिभा और मेधाशक्ति उच्चकोटि की थी और उन्होंने संलग्नता के साथ विद्याभ्यास करके अपने ज्ञान भंडार को बहुत बढ़ा लिया

था, पर उनकी प्रशंसा विद्वान् होने के नाते नहीं की जाती। उपर्युक्त घटना से उनकी जो सहृदयता प्रकट होती है, वही उनकी वास्तविक महानता है। जो विद्वान् तथा सब तरह से सुयोग्य होने पर भी अपने बजाय दूसरों को ही बढ़ावा देते रहते हैं, सामान्य श्रेणी के व्यक्तियों को प्रोत्साहन देकर आगे लाना चाहते हैं, वे ही सच्चे और महान् पुरुष हैं। जो विद्या अहंकार का कारण बने, उसको कभी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

चैतन्य देव अपने इसी गुण के कारण छोटी आयु में ही लोकप्रिय बन गये थे और वे जहाँ कहीं गये, उनको जनता का तथा सज्जन पुरुषों का सहयोग मिलता रहा। इसके विपरीत ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जो विद्या और ज्ञान अथवा किसी अन्य कला के क्षेत्र में प्रशंसनीय उन्नति कर लेने पर भी स्वभाव की संकीर्णता, ईर्ष्याभाव को नहीं छोड़ पाते और इस कारण वे कुछ धन और पदवी पा जाने पर भी सर्वसाधारण के हार्दिक सम्मान के पात्र नहीं बन पाते। दुनिया तो उसी को प्यार करेगी, जो उसका हितैषी हो, अपना स्वार्थभाव छोड़कर दूसरों की भलाई के लिए उद्यत रहता हो। जिसकी विद्या-बुद्धि केवल अपने ही काम आती है, वह तो एक प्रकार से उसका भार ही ढोता है। अन्य लोग काम पड़ने पर ऊपर से उसकी प्रशंसा, स्वागत-सम्मान भले ही कर लें, भीतर मन में उसके प्रति अश्रद्धा ही रखते हैं और प्रायः पीछे निंदा ही करते रहते हैं।

चैतन्य देव में यह उदारता तथा दूसरों के गुणों का आदर करने की प्रवृत्ति पूर्ण रूप में विद्यमान् थी और इस कारण किसी प्रकार का मतभेद अथवा विवाद उत्पन्न हो जाने पर भी वह कटुता अथवा शत्रुता का रूप ग्रहण नहीं करती थी। उनका यही मनोभाव पंडित केशव काश्मीरी से विवाद होने के समय प्रकट हुआ था और इसके कारण वह शास्त्रार्थ का व्यवसायी शीघ्र ही इनका प्रेमी और प्रशंसक बन गया। जब वह इनके इस गुण को पहिचान गया तो उसका आंतरिक भाव भी बदल गया और उसने इनके मार्गानुयायी होने में ही वास्तविक कल्याण समझा। उसके अत्यंत आग्रह करने

पर इन्होंने यही कहा—"महाराज, आप तो शास्त्र के परम मर्मज्ञ हैं ही। मेरी समझ में उसका सार यही है कि मनुष्य सांसारिक सफलता को सर्वोपरि मानने की बजाय भगवान् के सच्चे स्वरूप को समझे और वही आचरण करे, जिससे वे प्रसन्न हों ! भगवान् की कृपा सांसारिक-वैभव अथवा विद्या से नहीं मिल सकती। उसका एकमात्र मार्ग परमार्थ ही है। मैं इसे आपका परम सौभाग्य समझता हूँ कि इतनी बड़ी प्रतिष्ठा पाकर भी आपको सहज ही वैराग्य हो गया और आप भगवान् की कृपा पाने के लिए सब कुछ त्यागने को उद्यत हो गये। इस दृष्टि से मैं तो इस सिद्धांत को ही जीवन का मार्ग दर्शक समझता हूँ—

**धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्।**
**सेवस्व साधु पुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।।**
**अन्यस्य दोषगुणचिंतनमाशु त्यक्त्वा।**
**सेवा कथा रसमहो नितरां पिबत्वम्।।**

"धर्म का आचरण करो और विषय-वासना रूपी जो स्वार्थ भाव है, उसे त्यागते रहो। सत्संग करके भोगों और लौकिकता की इच्छा को बाहर निकाल दो। दूसरों की आलोचना, गुण-दोषों की चर्चा को त्यागकर भगवान् की सेवा और चर्चा में जीवन अर्पण कर दो।"

जो लोग केवल धार्मिक ग्रंथ पढ़ लेने अथवा थोड़ा-सा पूजा-पाठ कर लेने को "धर्मात्मा" का लक्षण मान बैठते हैं, वे चैतन्य देव के मतानुसार धार्मिक नहीं माने जा सकते। जब तक मनुष्य नैतिक, चारित्रिक, व्यावहारिक, दृष्टि से अपना सुधार नहीं करेगा तब तक वह धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। पंडित केशव काश्मीरी शास्त्रों का बहुत बड़ा ज्ञाता था और धर्म की व्याख्या भी वह खूब कर सकता था, पर वास्तव में उसके हृदय में धर्म की कोई भावना न थी। उसका शास्त्राध्ययन मुख्यतः दूसरों को हराने की दृष्टि से था और शास्त्रार्थ में वह धर्म शास्त्रों के वाक्यों का जो अर्थ करता था वह भी अवसर के अनुकूल होता था, जिससे उसकी विजय हो। इस प्रकार का आचरण वास्तव में धर्मानुकूल नहीं माना जा सकता। धर्म का पालन करने वाला वही हो सकता है जो अन्य

मनुष्यों का हित-साधन करे, किसी को शारीरिक ही नहीं मानसिक पीड़ा भी न पहुँचावे। भगवान् की सेवा-अर्चना का उद्देश्य यही है कि मनुष्य अपने निकटवर्ती व्यक्तियों की भलाई, कष्ट निवारण का प्रयत्न करता रहे। अन्यथा भगवान् तो स्वयं किसी के पास सेवा-पूजा कराने आयेंगे नहीं। धर्मात्मा व्यक्ति भगवान् के बनाये प्राणियों में ही उसका दर्शन करता है और अवसर मिलने पर सदैव ही उनकी सेवा को उद्यत रहता है।

## त्याग व तपस्या का जीवन—

चैतन्य का जीवन आरंभ से ही परोपकारमय और उदारतापूर्ण रहा था। दूसरों की सहायता से उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा। पर इसके साथ उनमें हास्य, विनोद और रसिकता की मात्रा भी कम नहीं थी। बचपन में तो वे प्रायः अपने घर वालों और पड़ोसियों को ऊधम मचाकर तंग करते ही रहते थे। बड़े होकर भी उनका हँसी-मजाक का स्वभाव नहीं बदला और वे अपनी विद्यार्थी-मंडली को लेकर तरह-तरह के कौतुक और कौतूहल करते रहते थे। कितने ही सीधे-साधे व्यक्ति उनकी छेड़खानी से बहुत घबराते भी थे। पर उनके इस व्यवहार में किसी प्रकार का दुर्भाव कभी नहीं रहता था और वे केवल कौतुकप्रियता के भाव से ही ऐसा करते थे।

नदिया के कितने ही पंडित, जो छोटी आयु में ही इतना सम्मान प्राप्त कर लेने के कारण मन में चैतन्य के प्रति ईर्ष्या रखते थे, उन्हें 'रसिक शिरोमणि' कहकर पुकारते थे। यद्यपि चैतन्य के चरित्र में किसी प्रकार के दोष की बात कभी सुनने में नहीं आई, पर वेशभूषा और रहन-सहन में वे बड़े सौंदर्यप्रिय थे और अपनी पत्नी से उनका व्यवहार बड़े प्रेम और अनुरक्तता का था। वे स्वभाव से ही प्रेमी जीव थे और उनको बदले में सर्वत्र प्रेम-युक्त व्यवहार प्राप्त होता भी था। इस प्रकार उस समय वे एक अनजान व्यक्ति को विनोदी, शृंगारप्रिय और सांसारिक विषयों में अनुरक्त ही प्रतीत होते थे। बाह्य धार्मिक कर्मकांडों की तरफ उनका बहुत कम ध्यान रहता था।

आरंभ में वैष्णव-धर्म की भक्ति-भावना का भी उनमें प्रत्यक्ष रूप में दर्शन नहीं होता था। यद्यपि उनके पिता एक प्रसिद्ध वैष्णव थे और उनके घर में सदा से भक्ति-भाव का जोर रहा था, पर उस समय चैतन्य उस तरफ कुछ ध्यान नहीं देते थे और अपना अधिकांश समय मनोविनोद की बातों में ही निकाल देते थे। इससे उनके अनेक शुभ-चिंतकों को कभी-कभी खेद भी होता था। ऐसे व्यक्तियों में एक पं० श्रीवास भी थे, जो उनके पिता के घनिष्ठ मित्र थे और इनके परिवार के प्रति सदा सद्भाव रखते थे। एक दिन जब चैतन्य गंगा-स्नान करके आ रहे थे, मार्ग में उनसे भेंट हो गई। उनको देखते ही चैतन्य ने प्रणाम किया ! श्रीवास ने उनसे किंचित् उलाहने के स्वर में कहा—

"निमाई ! अब तुम बालक नहीं हो, अब कुछ गंभीर बनो। तुम्हारे पिता तो परम वैष्णव थे।"

चैतन्य ने सरल भाव से उत्तर दिया—"महाराज ! थोड़े दिन ठहरिये, मैं भी पूर्ण रूप से वैष्णव बन जाऊँगा।"

ठीक अवसर समझकर श्रीवास ने कहा—"इसमें राह देखने की क्या बात है ? अभी से भक्ति-भाव जाग्रत् करना चाहिए ! देखो, तुम्हारे समान विद्वान् और लोकप्रिय पंडित वैष्णव बन जायेगा तो समस्त देश में वैष्णव-धर्म की ध्वजा फहराने लगेगी।"

चैतन्य ने मुस्कराकर इतना ही कहा—"जैसी प्रभु की इच्छा ! आप सब गुरुजनों का आशीर्वाद अवश्य सफल होगा।"

वास्तव में चैतन्य का व्यक्तित्व और जीवन उस उच्च और साथ ही गूढ़ श्रेणी का था, जिसे साधारण लोग शीघ्र नहीं समझ पाते। उनको नदिया का सर्वश्रेष्ठ पंडित और विद्वान् होने की प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी, पर उनमें किसी प्रकार का अभिमान या अहंकार का भाव न था। लोग उनको 'रसिक-शिरोमणि' कहते थे और वे गृहस्थ-धर्म का सच्चे प्रेमी की भाँति पालन करते थे, पर उनमें आसक्ति अथवा वासना न थी। उनके जीवन में कर्म, ज्ञान और वैराग्य का उचित समन्वय हुआ था। उनके हृदय के गूढ़ प्रदेश में भक्ति-सरिता भी बह रही थी, जिसे वे निराकार परमात्मा या साकार देव-मूर्तियों के बजाय भगवान् के जीवित स्वरूपों—मनुष्य मात्र की

सेवा और उपकार की ओर उन्मुख करना चाहते थे। धीरे-धीरे इस भाव के प्रकट होने का समय पास आता-जाता था।

चैतन्य अपने कितने ही परिचित और मित्रों के साथ पिता का श्राद्ध करने गया-क्षेत्र में पहुँचे। संध्या-वंदन करके गदाधर भगवान् के दर्शनों को गये। मंदिर में गदाधारी भगवान् की मूर्ति विराजमान थी। भक्तजन मधुर कंठ से भगवान् के चरणों की महिमा का स्तोत्र गा रहे थे। इस वर्णन को सुनते-सुनते चैतन्य ध्यानस्थ हो गये और उनका मन सांसारिक बातों से हटकर भगवान् के समीप जा पहुँचा। उनके कानों में भक्तों के इस आशय के शब्द आ रहे थे—

"प्रभु के चरण-कमलों को ब्रह्माजी ने अपने कमंडल के जल से धोया, भगवान् के पैर के अंगूठों से जो जल बहा, वही गंगा है। कैलासवासी महादेव ने उसे शीश पर चढ़ाया, भागीरथ तप करके उसे हिमालय पर से पृथ्वी पर लाये। इसी से गंगा पतितों को तारने वाली बनी हैं।"

"हे पुण्यशाली जनों ! भगवान् के चरण-कमलों में मन को लगाओ। वे पाप, ताप, संताप के हरने वाले हैं। आओ, हे भक्तजनों, ऐसे दयालु प्रभु की शरण लो।"

चैतन्य इन श्लोकों के गूढ़ार्थ को अमृत की तरह पी रहे थे। यद्यपि शब्दावली प्रचलित धार्मिक विश्वासों के अनुसार ईश्वर की साकार उपासना की परिचायक थी, पर चैतन्य को उसमें प्रभु के विराट् स्वरूप का अनुभव होने लगा। उनको प्रतीत हो रहा था मानों यह संपूर्ण विश्व ही भगवान् का देह है, प्रत्येक प्राणी उसी विराट्-देह का एक अणु है और इस कारण वे सब परस्पर भाई-भाई या एक ही महावृक्ष के छोटे-छोटे पत्ते हैं। इस भावना को करते-करते वे ऐसे भावावेश में आ गए कि उनका शरीर काँपने लगा, वाणी रुक गई और वे बेसुध से हो गये। संयोग से उसी समय उनके पूर्व परिचित ईश्वरपुरी भी उस समय वहाँ दर्शनार्थ उपस्थित थे। उन्होंने उनको सँभाला और बाहर लाकर उनको सावधान किया। चैतन्य ने स्वामी जी के पैर पकड़ लिए और बोले—"महाराज ! अब मेरी गया-धाम की यात्रा सफल हुई। श्राद्ध करने से तो थोड़े ही पितरों का उद्धार होता है, परंतु आप जैसे महापुरुषों के दर्शन से तो करोड़ों

का उद्धार हो जाता है। मेरा बड़ा भाग्य है कि आपके फिर दर्शन हो सके। अब मेरा हाथ पकड़कर मुझे सांसारिक मोह-जाल से निकालिए। आप ही मेरे गुरु हो।"

इसके पश्चात् जब चैतन्य शास्त्र-विधि के अनुसार पिंडदान आदि से निवृत्त होकर अपना भोजन बनाने लगे और दाल-शाक बनाकर भात को अग्नि पर रख दिया, उसी समय ईश्वरपुरी आ पहुँचे। चैतन्य दौड़कर उनके पैरों पर गिरने लगे, तो उन्होंने पहले ही उनको उठाकर हृदय से लगा लिया। ईश्वरपुरी ने हँसते हुए कहा—"हम आश्रम से शुभ मुहूर्त देखकर ही चले थे, इससे ठीक भोजन तैयार होने के समय आ पहुँचे।"

चैतन्य ने कहा—"महाराज ! जब भाग्य उदय होता है, तभी आप जैसे संतों की सेवा करने का अवसर मिलता है। आपके लिए आहार प्रस्तुत है। हाथ-पैर धोकर भिक्षा ग्रहण कीजिए।"

"ईश्वरपुरी ने हँसते हुए कहा—"यह रसोई हमें खिला दोगे तो फिर आपके लिए क्या बचेगा ?"

चैतन्य ने उत्तर दिया—"महाराज, अन्न तो आपका ही है, मैं तो सिर्फ पकाने वाला हूँ, आज्ञा होगी तो फिर से रसोई बन जायेगी।"

पुरी जी ने फिर से रसोई बनाने के झंझट का ख्याल करके कहा—"फिर से बनाने की क्या जरूरत है ? जो कुछ बन गया है, उसी में से आधा-आधा बाँट लेंगे। क्यों ऐसा ठीक रहेगा ? पर हमं तो ठहरे संन्यासी और तुम रहे गृहस्थ। हम भिक्षा लें और तुम भोजन करो—ऐसा कब तक चलेगा ?"

चैतन्य ने इस बात का यह आशय ग्रहण किया कि ईश्वरपुरी हमको सांसारिक-बंधन हटा देने का संकेत दे रहे हैं। पर इस समय इस बात को बढ़ाना ठीक न समझकर उन्होंने सरल भाव से उत्तर दिया—"महाराज को जैसी प्रसन्नता होगी वैसा ही किया जायेगा। आप हाथ-पैर धो लें, यह आसन बिछा है।"

चैतन्य ने उठकर स्वयं स्वामी जी के पैर धोये और अपने रेशमी वस्त्र से उनको पोंछा। वे भिक्षा लेने बैठे और चैतन्य परसने लगे। आग्रह करके वे खिलाते गये और ईश्वरपुरी खाते गये। जब सब भोजन चुक गया तो स्वामी जी खिलखिलाकर हँस पड़े और

कहने लगे—"तुमने तो सब भोजन-सामग्री हमको खिला दी, अब तुम क्या खाओगे महाराज !"

चैतन्य ने भी हँसकर उत्तर दिया—"जिसे कला आती है उसे किसी बात में कठिनाई नहीं होती। आप देखते रहें, अभी रसोई बन जाती है।"

दूसरे दिन प्रातःकाल स्नान तथा संध्या-वंदन करके चैतन्य ईश्वरपुरी के आश्रम में पहुँचे और अत्यंत नम्रतापूर्वक प्रार्थना की—"महाराज ! लोक-व्यवहार के कार्यों में यह जीवन समाप्त हुआ जा रहा है। अब आप मुझे अपनी शरण में ले लीजिये और भगवद्भक्ति का सच्चा मार्ग दिखाइये।"

चैतन्य के ऐसे वचन सुनकर ईश्वरपुरी ने कहा—"मैं तो आपका ही हूँ, आपके कहने से प्राण भी दे सकता हूँ, परंतु आपको शिष्य बनाकर मंत्र देने की योग्यता मुझ में नहीं है। मैं अधम हूँ, फिर आप जैसे उत्तम, कुलीन और विद्वान् ब्राह्मण को मंत्रदान कैसे कर सकता हूँ ?"

पर जब चैतन्य किसी प्रकार न माने तो उन्होंने कान में मंत्र पढ़कर दीक्षा दी। इससे उनका भावावेश बहुत बढ़ गया और पागल की-सी अवस्था हो गई। उन्होंने अपने साथियों से कहा—"तुम सब घर जाओ, मैं तो वृंदावन जाऊँगा। मेरी माता से कह देना कि उसका निमाई पागल हो गया है।" साथी लोग उनका ऐसा भाव देखकर घबड़ाने लगे। फिर ईश्वरपुरी ने उनको समझाकर सबके साथ नदिया भेजा। वे यथासमय घर पहुँच गये। पर अब उनकी अवस्था बदल गई थी। अब वे 'निमाई पंडित' नहीं रहे थे और न किसी से पढ़ने-लिखने के संबंध में ही चर्चा करते थे। उनके हृदय में भक्ति-भाव छलक रहा था और भक्ति भी वह सर्वग्राही, जो प्राणी-मात्र के भीतर अपनी ही आत्मा का प्रतिबिंब देखती है। इस समय उनके हृदय में यही भाव उठ रहा था कि देश भर में "भक्ति" की ऐसी धारा बहाई जाये, जिससे हिंदू-धर्म की डूबती नैया फिर से ऊपर उठकर तैरने लगे। विदेशी और विधर्मी शासन के कारण जनता के हृदय में से धर्म का भाव जो निर्बल पड़ता जाता था, वह चैतन्य को बहुत खटकने लगा था और उसी ने उनको घर-बार के

भार से मुक्त होकर अपने को पूर्णरूप से नव-जागरण के कार्य के लिए अर्पित कर देने की अंतः प्रेरणा दी थी।

घर पहुँचने पर जब अन्य परिचितजन उनसे मिलने आये और गया-यात्रा का समाचार पूछने लगे तो उन्होंने कहा—"वहाँ का क्या वर्णन करूँ, मैं तो पागल हो गया। वहाँ मुझे प्रभु के विराट् स्वरूप की झाँकी होने लगी और मुझे दिखाई पड़ने लगा कि मैं और अन्य सभी जीव भगवान् से अभिन्न हैं। यह समस्त विश्व भगवान् के ही भीतर अवस्थित है और हम सब उन्हीं के एक-एक अंश है। प्रभु के इस रहस्य को समझ जाने से मैं कृतकृत्य हो गया और मुझे विश्वास हो गया कि अपने अस्तित्व को इस विराट् विश्व में अंतर्हित कर देने में ही इस जीवन की सार्थकता है।"

पर संसार का नियम है कि जैसे ही कोई व्यक्ति इसके बंधनों को काटने, निष्काम और अनासक्त जीवन बिताने का विचार करता है, वैसे ही यह उसे अधिकाधिक बाँधे रखने का प्रयत्न करने लगता है। जब चैतन्य अपने शिक्षा-गुरु गंगादास से मिलने गये तो उनको इसी प्रकार का उपदेश सुनने में आया। गंगादास स्वयं पुस्तकीय ज्ञान वाले पंडित थे। शास्त्र को पढ़ना और पढ़ाना ही उनका जीवन व्यवसाय था। चैतन्य पर उनका बड़ा स्नेह था, क्योंकि इनकी विद्वता के कारण उनकी ख्याति भी बढ़ गई थी। चैतन्य ने गुरु के चरणों में प्रणाम किया और उन्होंने बड़े प्रेम से भेंट करके उनके मस्तक पर हाथ फेरा। उन्होंने कुशल समाचार पूछने के उपरांत कहा—

"बेटा चैतन्य ! तुम मेरे प्रिय विद्यार्थी हो। तुम्हारे जैसे योग्य विद्यार्थी को पढ़ाने से मैं अपने परिश्रम को सफल मानता हूँ। तुमने समर्थ विद्वान् बनकर मेरे नाम को भी प्रसिद्ध किया है। तुम्हारा स्वभाव बड़ा सरल है, पर तुम किसी के कहने में आकर अध्यापन कार्य को छोड़ना मत। जो पढ़े-लिखे नहीं होते, जिनकी बुद्धि कुशाग्र नहीं होती, वे ही भक्ति के नाम पर नाचते-कूदते फिरते हैं। तुम तो प्रसिद्ध विद्वान् हो, मेधावी हो, तुमको ऐसे "भाव" में पड़ना उचित नहीं।"

चैतन्य गुरु की सीख को सुनते रहे। उस समय वे नम्रता और विनय के भाव में विभोर हो रहे थे। वे स्वयं नहीं जानते थे कि मेरा जीवन इस प्रकार कैसे बदल गया ? उन्होंने सरल भाव से उत्तर दिया—

"गुरुदेव ! आपकी आज्ञा का पालन करने का मैं पूरा यत्न करूँगा। पर मैं क्या करूँ ? मेरा मन वश में नहीं है। देश और धर्म की दुर्दशा देखकर मेरे लिए शांत होकर बैठना कठिन लगता है। आप आशीर्वाद दें कि मन को स्थिर करके कर्तव्यपालन में संलग्न हो सकूँ।"

गुरु ने उनके मस्तक पर प्रेमपूर्वक हाथ रखकर कहा—"बेटा, सब ठीक हो जायेगा। चित्त को ठिकाने रखना चाहिए। अब अपने को संभाल कर पाठ पढ़ाने लगो। सैकड़ों विद्यार्थी निराश होकर फिर रहे हैं, ऐसा व्यवहार उचित नहीं।"

चैतन्य उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके दूसरे दिन पाठशाला पहुँचे। सब विद्यार्थी भी पाठ पढ़ने को आकर बैठ गये। पिछले तीन महीने से उनकी पढ़ाई बंद रही थी। अन्य स्थान में पढ़ने से उनको ऐसा आनंद नहीं आता था। इधर-उधर की कुछ बातें होने के पश्चात् विद्यार्थियों ने पढ़ाई की बात चलाई। पर चैतन्य की इस समय दशा पढ़ा सकने की नहीं थी। उनके हृदय में तो इस समय जनता को धर्म के सच्चे स्वरूप का संदेश देने की आग भड़क रही थी। उन्होंने विद्यार्थियों से कहा—

"हम बहुत समय से शास्त्रों के इस पचड़े में पड़े हैं। उनसे कुछ ज्ञान-वृद्धि अवश्य होती है, पर जीवन की सार्थकता इसे नहीं कह सकते। वास्तविक पढ़ाई तो यह है कि उस ज्ञान को किस प्रकार काम में लाया जाय ? उसके द्वारा किस प्रकार अन्य जीवों का हित-साधन किया जाय ? भगवान् का नाम सबसे मधुर और कल्याण करने वाला है। हमारा सच्चा हित इसी में है कि हम उस नाम के महत्त्व को स्वयं समझें और दूसरों को समझायें। भगवान् का ज्ञान और उनके आदेशों का पालन सच्ची विद्या है।"

चैतन्य देव का आशय यही था कि मनुष्य को विद्या तो प्राप्त करनी चाहिए। पर जो अपनी विद्या के लाभ को अपने तक ही

सीमित रखना चाहता है, वह स्वार्थी है और उसका पढना, न पढ़ना बराबर है। यद्यपि चैतन्य भक्तिमार्ग के अनुयायी थे और उनका सर्वोच्च साधना-मार्ग "नाम कीर्तन" ही था, पर उन्होंने स्वयं जीवन भर सेवा और परोपकार द्वारा लोगों को समाज के लिए त्याग और बलिदान की शिक्षा ही दी। इसी प्रकार शंकराचार्य यद्यपि वेदांती थे, जिसके अनुसार यह समस्त जगत् और उसके पदार्थ माया तथा भ्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। पर वे भी जन्म भर समाज को संगठित व शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करते रहे। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि, जो लोग इन महापुरुषों का नाम लेकर केवल गाकर और नाचकर कीर्तन करने का अथवा जगत् को माया बतलाकर निकम्मे रहने का मार्ग अपनाते हैं, वे वास्तव में इन महापुरुषों की शिक्षा को कुछ भी नहीं समझते। भजन, पूजन, कीर्तन, ध्यान आदि की भी आवश्यकता है और महत्त्व भी है, पर तभी तक जबकि हम इनको साधन मात्र मानकर मुख्य रूप से अपनी शक्ति को समाजोत्थान में लगावें।

## जनता में कीर्तन का प्रचार—

इस प्रकार चैतन्य प्रभु ने पाठशाला और अध्यापकी के व्यवसाय से विदा ली और समस्त जनता में नाम-कीर्तन द्वारा जागृति उत्पन्न करना, संगठन को दृढ़ करना अपना मुख्य कार्यक्रम निश्चित किया। वे प्रायः गंगा किनारे अपनी भक्त मंडली को एकत्रित करके मृदंग, मंजीरा, खंजरी, ढोल आदि बाजों के साथ मधुर कंठ से कीर्तन किया करते थे। जैसे-जैसे इसका समाचार जनता में फैलता गया, उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। थोड़े समय में समस्त नदिया नगर और आस-पास के स्थानों में कीर्तन का प्रचार हो गया और वहाँ से देश के अन्य भागों में उसका प्रभाव पड़ने लगा।

कीर्तन पहले भी अनेक वर्षों से प्रचलित था, पर तब तक दो-चार या दस-पाँच भक्त निजी तौर पर मिलकर कुछ समय भजन गा-बजा लेते थे। चैतन्य के व्यक्तित्व और अपूर्व विद्या-बुद्धि का इस कार्य में समावेश हो जाने से उसकी दिन दूनी प्रगति होने लगी और कुछ ही समय में उसने नगरव्यापी ही नहीं, देशव्यापी संगठन का रूप

धारण कर लिया। मुसलमान बादशाहों और नवाबों के निरंकुश शासन में हिंदुओं को किसी प्रकार का राजनैतिक अधिकार तो था नहीं। अगर किसी को सरकारी पद दिया भी जाता तो उसे शासकों की हाँ में हाँ मिलानी पड़ती थी और सरकारी आदेशों का पालन करने के लिए अपने ही भाइयों का दमन करना पड़ता था। इससे हिंदू लोग भी विशृंखलित होते जाते थे और विधर्मियों के अन्याय, अत्याचारों का विरोध करने की उनकी शक्ति निरंतर लुप्त होती जाती थी। अब चैतन्य देव के प्रचार कार्य से उनको संगठित होने की एक नई दिशा मिली और कुछ ही दिनों में कीर्तन के माध्यम से ही जन-जागृति की एक अभिनव लहर सर्वत्र फैल गई।

इस नवीन परिवर्तन को देखकर मुसलमान शासक मन में कुछ चिंतित हुए और उनको भय हुआ कि यह "धर्म" के नाम पर किया गया कीर्तन किसी दिन हमारी सत्ता के लिए एक रोड़ा सिद्ध हो सकता है। उन्होंने अपने अनुयायियों द्वारा इसका विरोध और शिकायतें करना शुरू किया। मुसलमान नागरिक तो ऐसी बातों को पसंद ही क्यों करने लगे, कुछ हिंदू भी जो सरकारी कृपा प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे और जिनकी निगाह में धर्म-कर्म के बजाय धन का महत्त्व सर्वाधिक था, उनके साथ मिल गये। वे लोग बार-बार अधिकारियों के पास जाकर फरियाद करने लगे कि चैतन्य द्वारा प्रचारित कीर्तन-केंद्रों की शाखाएँ अब नगर में जगह-जगह फैलती जा रही हैं और उनके कारण रात्रि में प्रायः सोने में भी कठिनाई पड़ जाती है। इस पर वहाँ के प्रधान अधिकारी (काजी) ने कीर्तन को नियंत्रित रूप में करने का आदेश दे दिया।

इधर चैतन्य भी इस परिस्थिति को समझ रहे थे। इसलिए वे अपने संगठन में दो-चार पक्के कार्यकर्ता शामिल करने का प्रयत्न करने लगे, जो इस कार्य में उन्हीं की तरह प्राणपण से भाग लेने को तैयार हों और कैसी भी आपत्ति आने पर पीछे हटने का नाम न लें। वैसे कीर्तन में भाग लेने वाले सभी भक्त सच्चे हृदय से धर्म के लिए कष्ट सहन करने को तैयार थे, पर गृहस्थी में होने के कारण सरकारी दवाब के सामने वे अंत तक नहीं टिक सकते थे।

## निताई और हरिदास—

चैतन्य को शीघ्र ही एक पक्का सहयोगी 'निताई अथवा नित्यानंद के रूप में मिल गया। वे नदिया के पास ही राढ़ प्रदेश के निवासी थे और बाल्यावस्था में ही एक संन्यासी के शिष्य हो गये थे। उनके साथ इन्होंने चारों धामों तथा काशी, प्रयाग, मथुरा, नासिक आदि समस्त तीर्थों की यात्रा की। इससे इनको देश की अवस्था का अच्छा अनुभव हो गया और यह भी देख लिया कि अनैक्य और असंगठन के कारण इतनी बड़ी हिंदू-जाति अल्पसंख्यक मुसलमानों के आधीन बनी है। जब पूरा भारत भ्रमण करके ये कुछ समय के लिए ब्रजभूमि में विश्राम कर रहे थे, तब इन्होंने नदिया में 'चैतन्य, द्वारा कीर्तन-प्रचार का समाचार सुना। सुनते ही इन्होंने जान लिया कि यह भक्ति और कर्म का समन्वय ही इस समय बेसुध हिंदू-जाति को पुनः जाग्रत् और धर्म-कर्तव्य पर कटिबद्ध कर सकेगा। वे उसी समय ब्रज से चल दिये और नदिया आकर चैतन्य के कंधे से कंधा मिलाकर कीर्तन-आंदोलन को सफल बनाने में जुट गये।

दूसरे सहयोगी हरिदास का चरित्र और भी अद्‌भुत था। यह पैदायशी मुसलमान थे और यशोहर जिले के एक छोटे से ग्राम में उनका जन्म हुआ था। बचपन में ही माता-पिता के मर जाने से वे अनाथ हो गये और भिक्षा माँगकर जीवनयापन करने लगे। पर उसी समय सत्संग के प्रभाव से उनको कृष्ण-भक्ति का चस्का लग गया और भिक्षा से पेट भरने के उपरांत वे दिन-रात गाँव के बाहर एक कुटी में बैठकर भगवन्नाम का जप करते रहते। इस प्रकार की तपस्या और पवित्र जीवन के कारण उनका नाम चारों तरफ फैलने लगा और ग्रामीण जनता उनको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगी।

यह देखकर समीप ही के एक अन्य गाँव के जमींदार 'रामचंद्र खाँ' को उनसे बड़ी ईर्ष्या होने लगी और उसने इनको चरित्र-भ्रष्ट करके नीचा दिखाने का विचार किया। इसलिए उसने एक रूपवती वेश्या को बहुत से पुरस्कार का लालच देकर इनके पास भेजा। उसने सोचा जब यह अपूर्व सुंदरी रात्रि के समय उनकी एकांत कुटी में जाकर प्रेम प्रदर्शित करेगी तो उनका आसक्त हो जाना

स्वाभाविक ही है। पर हरिदास पर भगवद्-भक्ति का गहरा रंग चढ़ चुका था। वह वेश्या चार दिन तक उनकी कुटी के द्वार पर कई-कई घंटे बैठी रही, पर उनके अखंड नाम-जप के आगे उसे कुछ कहने का अवसर ही न मिल सका। अंत में भगवान् का नाम सुनते-सुनते उसकी मति स्वयं ही बदल गई और वह इनके चरणों पर गिरकर कर्म-साधन का मार्ग पूछने लगी। उन्होंने वेश्या को भगवान् कृष्ण का भजन करने का उपदेश दिया और वह भी अपना सर्वस्व त्याग भिक्षुणी बनकर भक्ति मार्ग की पथिक हो गई। हरिदास ने अपनी कुटी उसके रहने के लिए दे दी और स्वयं अन्यत्र निवास करने लगे।

कुछ मुसलमानों को यह बात बहुत खटकी कि उनका एक सहधर्मी इस प्रकार 'काफिरों' के साथ मिलकर इस्लाम की बदनामी कर रहा है। उन्होंने इसकी शिकायत उस प्रदेश के शासक से की। उसने इनको पकड़वा मँगाया। इनका शील स्वभाव और उच्चकोटि की साधुता देखकर शासक ने इनको समझाया कि—"जब तुम्हारा जन्म मुसलमान के घर में हुआ है तो अपने मजहब पर ईमान रखकर उसके अनुसार आचरण क्यों नहीं करते ? इसके विपरीत चलने वाले को दंड सहन करना पड़ता है।"

हरिदास ने कहा—"श्रीमान् आपका कहना ठीक है, पर हृदय पर किसी का वश नहीं चलता। जिसके जैसे पूर्व संस्कार होते हैं वैसा ही उसका विश्वास बन जाता है। रही दंड की बात तो जब आप हिंदू से मुसलमान बनने वालों को किसी प्रकार का दंड नहीं देते तो मुसलमान से हिंदू बनने वाले को सजा देने का क्या कारण हो सकता है ?" यह तर्क शासक की समझ में तो आ गया पर काजी तथा अन्य मुसलमान अधिकारियों के दवाब के कारण उसे, हरिदास को प्राण दंड की आज्ञा देनी पड़ी और वह भी कोड़े मार-मार कर। इस आज्ञा के अनुसार जल्लाद कोड़े मारते हुए सब बाजारों में घुमाने लगे। कोड़े खाते-खाते उनकी तमाम देह लोहु-लूहान हो गई पर हरिनाम की ध्वनि बराबर मुँह से निकलती रही और उसी में पूरी तरह ध्यान लगे रहने के कारण उन्हें कोड़ों की पीड़ा भी नहीं जान पड़ी। यह देखकर जल्लाद घबड़ाये और हरिदास से कहने लगे कि,

अगर आप इतनी मार पर भी जीवित रहेंगे, तो हमारी नौकरी चली जायेगी। इस पर हरिदास ने मौन ग्रहण कर लिया और उनको मूर्छा आ गई। जल्लाद उनको गंगाजी में फेंक कर चले आये। वहाँ गंगा जल के प्रभाव से उनको कुछ समय में होश आ गया और उनके घाव भी धीरे-धीरे ठीक हो गये। यह खबर जब शासक के पास पहुँची तो उसको पश्चात्ताप हुआ और काजी को साथ लेकर वह स्वयं हरिदास के पास पहुँचा और उनसे अपराध को क्षमा कराया।

इसके पश्चात् हरिदास नदिया में आकर अद्वैताचार्य के घर रहने लगे और वे भी पुत्रवत् उनका पालन करने लगे। कुछ ही समय में वे चैतन्य की कीर्तन मंडली के पक्के सदस्य बन गये और जीवन के अंतिम क्षण तक अपनी समस्त शक्ति इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगाते रहे।

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org

## जगाई-मधाई का उद्धार—

इधर नित्यानंद और हरिदास जैसे नाम-कीर्तन के प्रचारार्थ प्राणदान करने को प्रस्तुत दो सहकारियों के आ जाने से नदिया नगर में कीर्तन का कार्यक्रम अधिकाधिक जोर पकड़ने लगा। उधर सरकारी अधिकारियों का रुख देखकर उनके कुछ पिठ्ठू इसमें बाधा डालने लगे। उस समय शहरों के इंतजाम के लिए आजकल की तरह नियमित पुलिस नहीं थी, वरन् कोई जबर्दस्त व्यक्ति सरकारी कर्मचारियों से मिलकर स्वयं ही व्यवस्थापक बन बैठता था और इसी कमाई से खाता-पीता और मौज करता था। चैतन्य के समय में नदिया में दो भाई जिनका नाम 'जगाई-मधाई' मशहूर था, अपनी मर्जी से ही शहर के 'कोतवाल' बने हुए थे। इनका असली नाम तो जगन्नाथ और माधव था और ये एक ब्राह्मण के पुत्र थे, परंतु उनका आचार-विचार ऐसा भ्रष्ट था कि दुनिया का कोई कुकर्म उनसे नहीं बचा था। वे चोरी, लूटमार, खून, आतंक द्वारा नदिया निवासियों को बहुत तंग करते थे। शराब पीकर वे जिस मोहल्ले में पहुँच जाते वहाँ रहने वालों की शामत आ जाती थी। एक तो वे स्वयं ही बड़े क्रूर और दुर्दमनीय थे, फिर उन्होंने काजी, सरकारी अफसर, अदालत वाले सबको मिला रखा था। लूटमार द्वारा प्राप्त धन में से वे उनको

भी हिस्सा देते थे। इसलिए नदिया में किसी का साहस उनके विरुद्ध जबान खोलने का नहीं होता था।

अब ये दोनों भाई कीर्तन के विरोधी बन गये और चाहे जब किसी भक्त को मारने-पीटने लगे। एकाध बार उन्होंने कीर्तन करने वालों के पखावज, ढोल आदि भी तोड़-फोड़ डाले थे। एक दिन मार्ग में उनकी भेंट हरिदास और नित्यानंद से हो गई। हरिदास कितने ही भक्तों के साथ कीर्तन करते चले जाते थे। जगाई-मघाई ने कीर्तन बंद करने को कहा—और भक्त तो डरकर चुप हो गये, पर हरिदास ने कीर्तन बराबर जारी रखा। इससे जगाई-मघाई क्रोधांध हो उनको लाठियों से पीटने लगे। पर हरिदास कहीं लाठी के भय से कीर्तन बंद करने वाले थे। वे जोश में आकर दुगने वेग से कीर्तन करने लगे। इतने में दो-चार भक्तों ने दौड़कर चैतन्य प्रभु को यह खबर दी। उन्होंने वहाँ आकर देखा कि हरिदास के मस्तक से खून की धार बह रही है। यह देखकर चैतन्य क्रोधित हो गये और उनका स्वरूप महा भयानक जान पड़ने लगा, जिसे देखकर वे दुष्ट भी डर गये। हरिदास ने उनके चरण पकड़ लिए और उन दुष्टों पर दया करने की प्रार्थना की। इस पर चैतन्य ने क्रोध त्यागकर उन दुष्टों को हृदय से लगा लिया। प्रभु के शरीर का स्पर्श होते ही उनका मनोभाव बदल गया और वे अपनी नीचता तथा चैतन्य की उदारता देखकर अपनी करनी पर पश्चात्ताप करने लगे। आगे चलकर वे स्वयं भी कीर्तन के बड़े प्रचारक बन गये।

## चैतन्य का संन्यास और महा अभियान—

इस घटना के थोड़े ही दिन बाद काजी के घर में जाकर कीर्तन करने की वह घटना घटी, जिसका वर्णन आरंभ में किया जा चुका है, इस प्रकार चैतन्य प्रभु ने नदिया में तो कीर्तन की धारा स्थायी रूप से बहा दी और उसका मार्ग निष्कंटक कर दिया, पर अब उनके चित्त में आने लगा कि केवल एक या दो नगरों में इस प्रकार कीर्तन द्वारा धर्म प्रभाव को जाग्रत् कर दिया गया और वहाँ के हिंदू धर्म रक्षार्थ कटिबद्ध हो गये तो इससे क्या बनता है ? यह समस्या तो देशव्यापी है। इस समय मुसलमान शासकों के

अन्याय-अत्याचारों से हिंदू-धर्म चारों दिशाओं में विपदाग्रस्त हो रहा है। उसके उद्धार के लिए जब तक किसी महा अभियान का शंख न फूँका जायेगा तब तक उसकी रक्षा होना कठिन ही है। इसके लिए मुझे आत्म-त्याग करके लोगों के सामने एक आदर्श रखना ही चाहिए और साथ ही जन-समुदाय का मार्ग-दर्शन भी करना चाहिए।

पर उस समय देश की जैसी राजनैतिक और सामाजिक अवस्था थी और आवागमन के साधन जैसे अल्प थे, ऐसी स्थिति में साधारण गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए इतना गुरुतर कार्य पूरा कर सकना असंभव था। उस समय रेल और मोटर तो क्या अधिकांश भागों में घोड़ागाड़ी की व्यवस्था भी नहीं थी। अधिकांश मार्ग कच्चे ही थे, जिन पर केवल बैलगाड़ियाँ चल सकती थीं। बीच-बीच में ऐसे भू-भाग भी थे, जहाँ केवल जंगल ही थे और मनुष्य केवल पैदल ही यात्रा कर सकते थे। फिर मार्ग में हर जगह डाकू, लुटेरों का भी भय था, जिसके कारण बहुत से लोग मिलकर ही यात्रा करते थे, अकेले यात्रा करना जानबूझ कर खतरे में पड़ना माना जाता था।

ऐसे देश-काल में जब चैतन्य ने हिंदू-जनता में जाग्रति उत्पन्न करने का निश्चय किया तो उन्होंने समझ लिया कि यह कार्य संन्यास ग्रहण किये बिना नहीं हो सकता। संन्यासी होकर ही बिना कौड़ी पैसा पास रखे देश-भ्रमण करना संभव है और उसी वेष में सभी प्रांतों की हिंदू-जनता उनकी बातों को आदरपूर्वक सुन सकती है। इसके सिवाय जब तक वे स्वयं कोई बड़ा त्याग करके न दिखावें तब तक दूसरों से देश और जाति के हित के लिए त्याग करने के लिए कहना और उसका कुछ प्रभाव होना संभव नहीं है।

यह सोचकर चैतन्य ने बिना अधिक विलंब लगाये—इस विचार को कार्य रूप में परिणत करने का निश्चय कर लिया और एक दिन रात्रि के समय बिना किसी से कुछ कहे सुने घर से निकल पड़े। उस समय उनकी आयु चौबीस वर्ष की थी और अब तक का जीवन घर में बड़े सुखपूर्वक बीता था। ऐसी पूर्ण युवावस्था में समस्त सांसारिक सुखों, पत्नी के स्वर्गीय-प्रेम तथा

माता की हार्दिक ममता को बिसरा कर संन्यास के शून्य मार्ग को ग्रहण कर सकना—एक असाधारण साहस था, जो मनुष्य को युगों के लिए अमर बना देता है।

उसी रात्रि को नौका द्वारा गंगा पार करके वे दूसरे किनारे के समीप रहने वाले एक संत केशव भारती के आश्रम में जा पहुँचे और संन्यास धारण करने की अभिलाषा प्रकट की। केशव भारती उनको अच्छी तरह जानते थे, इसलिए उन्होंने चैतन्य को घर लौट जाने के लिए बहुत समझाया, पर चैतन्य का निश्चय इतना दृढ़ था कि उनको घर वापस भेज सकना किसी प्रकार संभव न था। यह देखकर केशव भारती अंत में उनको दीक्षा देने को तैयार हुए। उनके रेशम के लच्छों के समान घुँघराले बालों को उतारने का काम जिस हरिदास नामक नाई ने किया, उसने बड़ी विनती करने के पश्चात् काँपते हुए हाथों से चैतन्य प्रभु के मस्तक पर उस्तरा फेरा। इसके पश्चात् उसने हजामत बनाने का सब सामान गंगाजी में फेंक दिया और वह भी उनका सेवक बन गया।

केशव भारती ने चैतन्य के कान में नारायण का मंत्र फूँका तो वे भावावेश में बेसुध हो गये। नित्यानंद ने, जो उनके साथ नदिया से आये थे 'हरि बोल' मंत्र का उच्चारण करके उनको जाग्रत् किया। 'कृष्ण-कृष्ण' जपते चैतन्य ने भगवा वस्त्र धारण किया और एक हाथ में कमंडल और दूसरे में दंड धारण किया। इस वेष में जब वे गुरु के सम्मुख आकर खड़े हुए तो उन्होंने उनका भक्ति भाव देखकर उनका संन्यास का नाम "कृष्ण-चैतन्य" रखा।

कुछ समय तक आस-पास के स्थानों में भ्रमण करके चैतन्य प्रभु फिर नदिया में आये और अद्वैताचार्य के घर ठहरे। उनके आगमन का समाचार सुनकर विभिन्न मुहल्लों के भक्त कीर्तन करते हुए उनके दर्शनार्थ आने लगे। उनका भगवा वेष और मुंड़ा हुआ मस्तक देखकर अनेक प्रेमी आँसू बहाने लगे। नित्यानंद उनके घर जाकर शचीमाता को बुला लाये। माता को देखते ही चैतन्य चरणों में गिर पड़े और आशीर्वाद माँगा। पुत्र के वियोग से माता के हृदय में बड़ा आघात लगा था, पर वे महान् पुत्र की माता थीं, इससे धैर्य

धारण करके कहने लगीं—"चैतन्य ! तेरा मार्ग मंगलमय हो। तू अब हमारा न रहकर संपूर्ण विश्व का बन गया है। तेरे द्वारा अनेकों का कल्याण होगा। हमारी रक्षा तो भगवान् करेंगे ही, इसलिए तू निश्चिंत रहना।"

माता की ऐसी धैर्य और ज्ञानपूर्ण वाणी सुनकर चैतन्य प्रभु बहुत संतुष्ट हुए और सबको आश्वासन देकर नित्यानंद के साथ जगन्नाथपुरी की तरफ रवाना हो गये। जब वे उड़ीसा की सीमा पर पहुँचे तो उनकी भेंट सीमा-रक्षकों से हुई। बंगाल के शासक तथा उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र के बीच उस समय झगड़ा चल रहा था, इसलिए सीमा-रक्षक बंगाल से आने वालों को बहुत तंग किया करते थे। पर चैतन्य देव के समदर्शी मनोभाव को देखकर, वहाँ का प्रधान अधिकारी बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने बिना जरा भी आपत्ति के चैतन्य देव की पूरी मंडली को उड़ीसा में प्रवेश करने दिया।

पुरी में कुछ समय तक प्रचार करने के पश्चात् चैतन्य देव ने अपने मुख्य कार्य की तरफ ध्यान दिया और वे भारतीय जनता को जागृति का संदेश सुनाने के लिए अकेले ही चल दिये। उनके साथ केवल एक सेवक था, जिसका नाम कृष्णदास था। गोदावरी के तटवर्ती विद्यानगर के राजा रामानंद ने, जो स्वयं भी बड़ा विद्वान् था, इनकी बड़ी सेवा-पूजा की और कई दिन तक शास्त्र चर्चा करता रहा। वहाँ से चलकर कृष्णा, कावेरी, ताम्रपर्णी नदियों के तट पर अवस्थित अनेक तीर्थों में भ्रमण करते और वहाँ पर एकत्रित जनसमुदाय को धर्म और देश की रक्षा की प्रेरणा देते हुए सेतुबंध-रामेश्वर तक जा पहुँचे। फिर पश्चिमी घाट की तरफ जाकर उन्होंने त्रिवेंद्रम, मैसुर, कर्नाटक, नासिक, पंढरपुर आदि की यात्रा की। वहाँ से द्वारिका पहुँचे और फिर दक्षिण भारत के विजयनगर राज्य होकर जगन्नाथपुरी वापस आ गये। इस यात्रा में उनको दो वर्ष से अधिक समय लगा।

दक्षिण भारत की इस यात्रा में कई उल्लेखनीय घटनाएँ हुईं। चैतन्य प्रभु जब 'सिद्धवट' नामक स्थान पर पहुँचे, तो वहाँ एक ब्राह्मण को पेड़ के नीचे गीतापाठ करते देखा। उसे गीता पर बहुत अधिक श्रद्धा थी, पर वह श्लोकों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता था। इससे उसे बड़ा खेद होता, वह गीता पढ़ता जाता और आँखों

से बराबर आँसू बहते रहते। चैतन्य बड़े प्रेम से उसका पाठ सुनने लगे। पाठ पूरा होने पर उन्होंने उसे हृदय से लगाकर बड़े अनुरागपूर्वक भेंट की। ब्राह्मण ने उनको अपने अज्ञान के विषय में बतलाया, इस पर चैतन्य ने कहा—

"भूदेव ! तुम धन्य हो। भगवान् तो भावना को देखते हैं। अगर आपका मनोभाव सच्चा और शुद्ध होगा तो उसका शुभ फल अवश्य प्राप्त होगा। भावशुद्धि के साथ अगर पाठ भी शुद्ध हो तो वह सोने में सुगंध के समान है। तुम अगर प्रयत्न करोगे तो शुद्ध पाठ करना भी आ जायेगा।" इसके पश्चात् चैतन्य ने उसे शुद्ध पाठ की विधि भी समझा दी, जिससे उसे बड़ा संतोष हुआ।

× × × ×

रास्ते में एक बार बड़ा भयंकर वन मिला, जिसमें नौरोजी नाम का प्रसिद्ध लुटेरा रहता था। लोग उसके नाम से थर-थर काँपते थे। चैतन्य ने उसी वन में एक वृक्ष के नीचे आसन लगाया और मीठे स्वर से हरिनाम लेने लगे। नौरोजी का पड़ाव भी पास में ही था। जब उसके कानों में हरिनाम की ध्वनि पड़ी तो उसका मनोभाव बदल गया और वह चैतन्य के दर्शन करने आया। उनके उपदेश सुनने पर उसकी काया पलट हो गई और उसने कहा—

"प्रभु ! आपने आज मेरे ऊपर जादू कर दिया। आप मुझे इस पापमय जीवन से छुड़ाओ। हिंसा, चोरी, लूटमार करके मैंने बहुत पाप इकट्ठा किया है, आप मेरा उद्धार कीजिये।"

चैतन्य ने कहा—"नौरोजी ! सच्चे मन से भगवान् की शरण में जाने वाले को कभी भय नहीं रहता। भगवान् ने गीता में कहा है कि कोई व्यक्ति चाहे कैसा भी दुराचारी क्यों न हो, पर जो हृदय से पश्चात्ताप करके अनन्य भाव से मेरा ध्यान करने लग जाता है, उसे साधु ही समझना चाहिए। तुम्हारे ऊपर भगवान् की दया हो गई है, इसी से तुमको यह सद्बुद्धि आई है। तुमने अब तक जिस प्रकार लोगों को कष्ट पहुँचाया है अब उनकी सेवा, उपकार करने का व्रत धारण करो। यह भगवान् का सच्चा व्रत है।"

चैतन्य जब वहाँ से आगे चलने लगे तो नौरोजी भी अपना सर्वस्व त्याग कर उनके साथ हो लिया और संतों की सेवा में मन

लगाने लगा। बड़ौदा पहुँचने पर किसी आकस्मिक बीमारी से उसका देहावसान हो गया और चैतन्य ने एक आत्मिक जन के समान उसकी नश्वर देह को समाधि दी।

× × × ×

एक बड़े तीर्थ में पहुँचकर चैतन्य किसी शिवालय में ठहर गये। कुछ समय पश्चात् वहाँ तीर्थराम नाम का एक धनवान् और विलासी युवा पुरुष आया। उसके साथ सत्याबाई और लक्ष्मीबाई नाम की दो वेश्याएँ भी थीं। चैतन्य को वहाँ टिका देखकर उसे उनकी परीक्षा करने की सूझी और उसने दोनों वेश्याओं को उनके पास इसी उद्देश्य से भेजा। वे उस समय हरिनाम-कीर्तन में आनंद मग्न थे, नेत्र बंद करके अत्यंत मधुर स्वर से भगवान् का नाम ले रहे थे। थोड़ी देर बाद उन्होंने आँखें तो खोलीं दोनों स्त्रियों को सामने बैठी देखा। वे हाथ जोड़कर उनसे कहने लगे—"माताजी ! इस दीन संतान के पास आप कैसे पधारीं ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?" वेश्याएँ उनके इस भाव को देखकर अत्यंत लज्जित हो गईं और चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगीं। उसी समय तीर्थराम भी वहाँ आ गया। चैतन्य के उपदेश से वे सब शुद्ध वैष्णव बन गये और परोपकारमय जीवन व्यतीत करने का निश्चय करके अपने घर चले गये।

× × × ×

दक्षिण भारत की यात्रा करते हुए कूर्मांचल स्थान में चैतन्य की भेंट वासुदेव नामक व्यक्ति से हुई, जो प्रारब्धवश कोढ़ी हो गया था, पर उस दशा में भी भगवान् पर पूर्ण विश्वास रखने वाला था। जब उसे चैतन्य के आने की खबर मिली तो किसी प्रकार चलकर उनके ठहरने के स्थान पर पहुँचा। पर उस समय तक वे आगे के लिए चल चुके थे। इस पर वह शोक करता हुआ वहीं बैठ गया और अपने आपको कोसने लगा। भगवान् ने उसकी पुकार सुन ली और चैतन्य किसी कारणवश फिर वहाँ आ गये। उन्होंने वासुदेव को गले से लगा लिया, यद्यपि वह कहता ही रहा—"प्रभु ! आप मुझे स्पर्श न करें। मेरा यह अपवित्र पीव आपकी सुवर्ण जैसी सुंदर देह में लग जायेगा।' चैतन्य ने कहा—"कुछ भी हो, मैं तुम्हारे समान सच्चे भगवद्भक्त से कैसे पृथक् रह सकता हूँ ?"

इसी प्रकार पुरी में चैतन्य ने श्री सनातन को कोढ़ी होने पर भी अपना शिष्य बनाया और साथ में रखा। इनकी कृपा से वह कुष्ट रोग फिर ठीक हो गया और श्री सनातन ने वृंदावन में रहकर चैतन्य के सिद्धांतों का इतना अधिक प्रचार किया कि वह आज इनके अनुयायियों का सबसे बड़ा केंद्र बना हुआ है।

जब चैतन्य प्रभु यात्रा से लौटकर जगन्नाथपुरी आ गये तो उड़ीसा के महाराज प्रतापरुद्र ने अपने गुरु सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा प्रार्थना कराई कि वे एक दिन राजभवन में पधार कर मुझे दर्शन दें। यह सुनकर चैतन्य कहने लगे—"भट्टाचार्य जी ! आप कैसी बात कह रहे हैं। अब संन्यास लेने पर राजभवन में मेरा क्या काम रहा ?"

**निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य।**
**पारे परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।।**
**संदर्शनं विषयिणामथ योषितां च।**
**हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु।।**

"जो मनुष्य अकिंचन है, भगवान् के भजन में संलग्न है, संसार-सागर से पार उतरना चाहता है, उसे विषयी लोगों और रमणियों का दर्शन विषभक्षण से भी अधिक अनिष्टकारक है।"

अंत में महाराज एक दिन स्वयं सब प्रकार के राज्य चिह्नों को त्यागकर अत्यंत साधारण वेष-भूषा में चैतन्य देव के पास पहुँचे और उनके चरणों को दबाते हुये भागवत के श्लोक सुनाने लगे। तब चैतन्य ने अत्यंत प्रेमपूर्वक उनसे भेंट की और कहा कि—'मैं तो कंगाल हूँ आपको केवल यह प्रेमालिंगन ही दे सकता हूँ।'

कुछ समय पश्चात् चैतन्य देव वृंदावन की यात्रा को गये। प्रयाग में उनकी भेंट वल्लभाचार्य से हुई। भक्तिमार्ग के इन दो महान् प्रचारकों में परस्पर अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार-विनिमय हुआ। वृंदावन में, जो उस समय साधुओं का ही स्थान था, उन्होंने भली प्रकार भ्रमण किया और वहाँ एक ऐसे सार्वजनिक तीर्थ की योजना बनाई, जहाँ जनता सदैव आती रहे और भगवद्-भक्ति के साथ ही धर्मनिष्ठा और जातीयता की रक्षा की प्रेरणा ग्रहण करती रहे। यद्यपि आज के वृंदावन को देखकर, जिसमें प्रायः धर्म को बेचकर पेट भरने

वाले ही दृष्टिगोचर होते हैं, हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि इसकी स्थापना महाप्रभु चैतन्य जैसे महामानव और परमत्यागी ने की होगी, पर चैतन्य के समय में वह वास्तव में थोड़े से परमार्थी जीवन व्यतीत करने वाले साधु पुरुषों की तपोभूमि था और चैतन्य महाप्रभु के सत् सिद्धांतों के प्रभाव से बहुत समय तक वैसा ही बना रहा। यद्यपि इसके पश्चात् वे स्थायी रूप से पुरी में ही रहे, पर उनके उपदेशों के प्रभाव से करोड़ों हिंदुओं में जातीयता की भावना उत्पन्न हो गई, जिससे धर्म-रक्षा के कार्य में बड़ी सहायता मिली।

इस प्रकार बीस-पच्चीस वर्ष तक—भक्ति-मार्ग द्वारा हिंदू संगठन और नव जागरण का कार्य संपन्न करके चैतन्य-प्रभु ने अपने कार्यक्रम को सफल होते देख लिया। उस समय (सम्वत् १५६०) उनकी आयु यद्यपि ४८ वर्ष की ही थी, पर कोमल प्रकृति के होने के कारण अनेक प्रकार की असुविधाओं को सहन करने और लगातार श्रम करते रहने से वे दुर्बल हो गये और इसलिए उन्होंने अपनी लीला को संवरण करना ही उचित समझा। एक बार तो वे भावावेश में आकर समुद्र में कूद पड़े, पर कुछ मल्लाहों ने उन्हें बाहर निकाल लिया। उसके पश्चात् एक दिन कथा सुनते-सुनते उठे और बड़ी शीघ्रता से जगन्नाथ जी की मूर्ति के सम्मुख प्रार्थना करते-करते कुछ ही क्षणों में प्राण त्याग दिये।

चैतन्य प्रभु के इस प्रकार के आत्म-बलिदान से उनके अनुयायियों को जो आंतरिक प्रेरणा प्राप्त हुई, उससे धर्मनिष्ठा और जातीयता की एक देशव्यापी लहर फैली, जिसने हिंदू-जाति को ओत-प्रोत कर दिया। जो लोग कीर्तन के बाह्य रूप को ही देखते हैं, उनके लिए तो वह केवल 'राम-कृष्ण' आदि के नाम का संगीतमय उच्चारण और नाचना-गाना ही है। पर उसके भीतर जो समाज को जाग्रत्, उद्यत और संगठित बनाने की महान् संभावना निहित है, उसकी तरफ थोड़े ही लोग ध्यान देते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने वास्तव में इसी उद्देश्य से कीर्तन का प्रचार किया था और उससे करोड़ों व्यक्तियों को जातीयता और एकता के भावों से अवगत कराया था। मुसलमानी शासन-काल में इसके प्रभाव से अनगिनती व्यक्ति देश और धर्म के लिए आत्म-त्याग करने को तैयार हुए थे। यह सच है

कि वर्तमान समय में अनेक लोगों ने कीर्तन को एक पेशा बना लिया है। इसके द्वारा वे मौज-मजा की जिंदगी ही नहीं गुजारते वरन् अनेक अवसरों पर चरित्र-भ्रष्टता के कृत्य भी कर डालते हैं। पर इसमें दोष कीर्तन का नहीं, वरन् यह तो किसी चीज का वैसा ही दुरुपयोग है जैसा देश-सेवा और समाज-सेवा आदि के क्षेत्रों में भी समय-समय पर देखने में आया करता है।

पर श्री चैतन्य महाप्रभु ने कीर्तन का प्रचार सर्वथा भिन्न उद्देश्य से किया था। जैसे 'काजी वाली घटना' से प्रकट होता है, उनका उद्देश्य इसके द्वारा हिंदू-जाति को जाग्रत् और संगठित करना ही था, जिससे वह विदेशी और विधर्मी आक्रमणकारियों का सामना अच्छी तरह कर सके। इधर बीस-पच्चीस वर्ष से देश में फिर कीर्तन-प्रचार की लहर आई है। पर हमें खेद से कहना पड़ता है कि अधिकांश लोगों ने उसे केवल 'पुण्य' और 'परलोक' का साधन ही समझा है। ऐसे मनुष्यों की भी कमी नहीं, जो उसे मनोरंजन और मनोविनोद से बढ़कर और कुछ नहीं मानते। इसे हम हिंदू-समाज और धर्म का दुर्भाग्य ही कहेंगे। यदि हम श्री चैतन्य के महान् कार्य और उद्देश्य की तरफ ध्यान दें और कीर्तन में 'राम-कृष्ण' का नाम लेने के साथ ही उनके आत्म-त्याग, समाज-सेवा आदि गुणों को भी अपनावें तो इसके द्वारा आज भी हिंदू-जाति में एक ऐसी नवीन चेतना उत्पन्न की जा सकती है, जिससे यह अपनी निर्बलता को त्यागकर पुनः सशक्त और सबल बन सकती है।

हिंदू जाति को 'धर्म-प्राण' कहा जाता है और इसमें संदेह नहीं कि इसके भीतर प्राचीन त्यागी और तपस्वी पूर्वजों के प्रभाव से एक ऐसी आध्यात्मिक धारा निहित है, जिससे यह समस्त विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकी है। चैतन्य महाप्रभु ने तत्कालीन परिस्थिति को समझकर उसके लिए कीर्तन का उपाय निकाला, जिससे वह आध्यात्मिक शक्ति प्रकट होकर समाज की रक्षा हो सकी। हमको भी वर्तमान समय के अनुकूल कोई ऐसा कदम उठाना चाहिए, जिससे हमारी खोई हुई आध्यात्मिकता फिर से प्रबुद्ध हो सके। अब भारतीय समाज के कल्याण का एक मात्र यही उपाय है।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)